ORIGINAL ARTICLE ISSN:- 2249-894X

सारांश :

व्युत्पत्ति की दृष्टि से, शिक्षा शब्द संस्कृत की 'शिक्ष' धातु से बना हुआ है। 'शिक्ष' अर्थ है ''सीखना'' तथा प्रेरक के रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ 'सिखाना' भी होता है। सीखने, सिखाने के परिप्रेक्ष्य के आधार पर इसके अर्थ को व्यापक एवं संकुलित भी किया जा सकता है। संकुचित रूप में शिक्षा को जहाँ औपचारिक शिक्षा तक ही सीमित रखा गया, वहीं व्यापक रूप में शिक्षा के अनौपचारिक रूप को महत्व प्रदान किया गया, परंतु औपचारिक जीवन में समान रूप से महत्व रखती है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने शिक्षा पर अपने विचार दिए हैं, वे मानते हैं, कि सच्ची शिक्षा वह जो कुछ भी हो, उसे मनुष्यों को उनके परस्पर संबंधों मे और जो उनकी सुरक्षा में उनके प्रति सम्य बनाने और मानवीयकरण की सर्वाधिक प्रवृत्ति रखती होगी।

शिक्षा : मातृत्व के लिए वरदान

पूनम केशरवानी

शोध छात्रा , समाज शास्त्र विभाग , डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर.

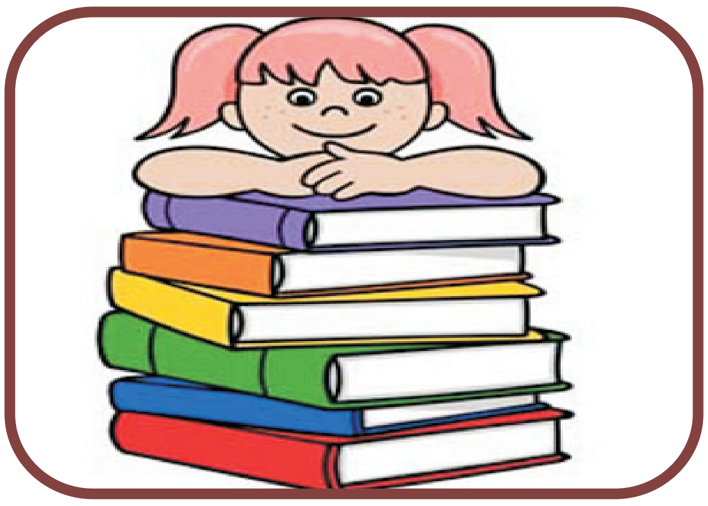

Review Of Research

प्रस्तावना :

उनका यह विचार शिक्षा के मानववादी पक्ष को अधिक महत्व प्रदान करता है। मध्य काल में प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री कामेनियस ने ज्ञान और नीति संबंधी गुणों को विकास करके मनुष्य कहलाने का अधिकार होता है। अतः शिक्षा को एक ऐसा अभिकरण माना गया जो मानवीय शरीर रचना प्राप्त एक जीव को मनुष्यता के आदर्श प्रारूप को प्राप्त करने में सहयोगी बने, जिसे गाँधी जी जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। जो कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करती है। नवरत्न स्वरूप सक्सेना ने अपनी पुसतक 'शिक्षा सिद्धांत' में प्रकाश है, जिसके द्वारा बालक की समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है। इससे वह समाज का एक उत्तरदायी घटक एवं राष्ट्र का प्रखर चरित्र सम्पन्न नागरिक बनकर समाज को सर्वांगीण उन्नति में अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास करने की भावना से ओत–प्रोत होकर अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को पुर्नजीवित एवं पुर्नस्थापित करने के लिए प्रेरित हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है, कि शिक्षा का सर्वाधिक ध्यान मानवीय विकास की ओर है और यह विकास मानव अपने चारों ओर के परिवेश के विषय में ज्ञान प्राप्त करके, अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त करके, साधारण बातचीत करने के लिए भाषा संबंधी योग्यताएँ प्राप्त करके, व्यक्तिगत एवं समूहगत संबंधों की जानकारी प्राप्त करके करता है। इस समस्त विकास के माध्यम से शिक्षा अपने लक्ष्यों, ज्ञान प्राप्ति, समान्तरण, स्वतंत्रता प्रदान करना और चरित्र–निर्माण को मानवीय व्यक्तित्व में प्राप्त करती है। चूँकि शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है, अतः इसका प्रारंभ शिशु के जन्म के बाद से ही हो जाता है। प्रारंभ में वह अपनी नैसर्गिक आवश्यकताएँ पूर्ण करने हेतु सीखता है, जिसमें चलना, बोलना आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। तत्पश्चात बालक के व्यक्तित्व निर्माण एवं सामाजीकरण के लिए शिक्षा का प्रारंभ होता है, जिसके संबंध में कई विचार एवं सिद्धांत चिद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए परंतु प्रसिद्ध फलवादी शिक्षा शास्त्री जॉन डी.वी. मानते हैं, कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य बालक की शक्तियों का विकास है। वह विकार किस प्रकार से होगा इसके लिए दो सामान्य सिद्धांत निश्चित नहीं यिका जा सकता, क्योंकि भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। डी.वी. शिक्षा के लक्ष्य को उन्मुक्त छोड़ देना चाहते है, क्योंकि यदि पहले से निश्चित कर लिया जाएगा और बालक को उसी ओर ले जाने की कोशिश की जाएगी तो उससे हानि हो सकती है। शिक्षा, बालक के लिए है, बालक शिक्षा के लिए नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करना है, जिसमें प्रत्येक बालक को समस्त मानव जाति की सामाजिक जागृति में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले। शिक्षा का उद्देश्य बालक में सामाजिक कुशलता उत्पन्न करना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज से बाहर रहकर उसका विकास नहीं हो सकता। सामाजिक जीवन में सभी का विकास होता है, इस विकास में नैतिकता मुख्य है। नैतिक विकास सक्रियता से होता है, इससे व्यक्ति में कुशलता और उच्च चरित्र का निर्माण होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक जीवन में दक्षता प्रापत करना माना गया है।

शिक्षा और समाज –

इस प्रकार समझा जा सकता है, कि शिक्षा और समाज का घनिष्ठ संबंध है और यह एक सामाजिक प्रक्रिया भी है। मनुष्य को लैंगिक विभेद के आधार पर स्त्री एवं पुरूष की शारीरिक संरचना प्राप्त हुई है और इस संरचना को अपनी जैविकीय विशेषताओं के आधार पर माता एवं पिता के रूप में प्रजनन की शक्ति मिली है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त यह शारीरिक संरचना एवं शक्ति मानवीय जीवन का मूल आधार एवं समाज की निर्माण कर्ता है। परंतु समाज केवल व्यक्ति के जन्म से निर्मित नहीं होता। यह निर्मित होता है, विभिन्न व्यक्तियों के मध्य होने वाली अंतः क्रियाओं द्वारा निर्मित सामाजिक संबंधों से। यही संबंध एक जटिल व्यवस्था के रूप में समाज का निर्माण करते हैं और यही समाज विभिन्न संस्थाओं, संस्कृतियों, आदर्शों, नियम, मूल्यों आदि के द्वारा मानव और उनके जीवन को नियंत्रित एवं निर्देशित करने का प्रयास करता है। मानव के स्त्री एवं पुरूष नामक इन दो रूपों को भी समाज ने नियंत्रित एवं निर्देशित करने का प्रयास किया है। जिस ज्ञान को एक व्यक्ति के सर्वांगीण विकास हेतु अनिवार्य माना गया है, उसे भी समाज ने नियंत्रित एवं निर्देशित करने का प्रयास करते हुए, इस ज्ञान को किसे, कितना और किस रूप में प्रदान करना है, का निर्धारण किया।

भारतीय समाज और स्त्री शिक्षा –

समाज ने स्त्री एवं पुरूष की शिक्षा एवं सामाजीकरण के अलग–अलग मापदण्ड निर्धारित किए। विशेषकर भारतीय समाज के सदंर्भ में देखा जाए, तो स्त्रियों की शिक्षा के प्रति एक संकुचित मानसिकता का विकास हुआ। हालांकि भारतीय समाज में प्रारंभिक स्तर पर ऐसा नहीं था, भारतीय समाज अपने ज्ञान, आध्यात्मिक चिंतन एवं दर्शन के लिए संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध रहा है। भारत की इसी ज्ञान के प्रति प्रेम की प्रशंसा अनेक विदेशी विद्वानों ने की है। स्व. डब्ल्यू टॉमस ने भी अपने विचारों को इस संदर्भ में अभिव्यक्त किया है और माना है कि भारत में शिक्षा कोई विदेशी पौधा नहीं है। संसार का ऐसा कोई भी देश नहीं है, जहां ज्ञान के प्रति प्रेम का इतने प्राचीन समय में आविर्भाव हुआ हो या जिसने रहना चिरस्थायी और शक्तिशाली प्रभाव डाला है। अतः भारतीय समाज में हमेशा से ही ज्ञान के प्रति आदर एवं प्रेम के भाव रहे हैं और भाव में लैंगिक विभेद के प्रति संकुचित धारणा प्रारंभ के वर्षों में नहीं देखी गई। भारतीय सभ्यता के प्राचीन काल

उतना ही महत्वपूर्ण दृष्टिगत होता है। शिक्षा का क्षेत्र तो विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसका कारण है कि सुदीर्घ–काल तक शिक्षा का तात्पर्य वैदिक शिक्षा था तथा यज्ञों में सम्मिलित होने वाले को बिना किसी लिंग भेद के वैदिक शिक्षा अनिवार्य थी। (अल्तेकर 1968:155) (ऋग्वेद से ई. 200 तक) भारतीय संस्कति के उन्मेषकाल में नारी की प्रतिष्ठा को पुरूष के समानांतर ही स्वीकारा गया था। वैदिक काल की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था में प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार स्त्री की प्रतिष्ठा पुरूष के समान थी। बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन में उन्हें पुरुष के समान स्थान प्राप्त था। स्त्रियों का उपनयन संस्कार अनिवार्य रूप से होता था। दर्शन, काव्य तथा कर्मकाण्ड तीनों ही क्षेत्रों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सराहनीय भूमिका रही है। ऋचाओं के दर्शन करने वाले दृष्टाओं, आध्यात्मिक चिंतन करने वाले दार्शनिकों तथा कर्मकाण्ड के ज्ञाता ऋषियों जैसे प्रतिष्ठित पद भी महिलाओं को प्राप्त कर रहे थे।

वे धार्मिक कृत्यों / अनुष्ठानों में पुरूषों के साथ सक्रिय, सहयोगी एवं सहभागी हुआ करती थीं। ऋग्वेद की मंत्र दृष्टा ऋषिकाओं में 'लोपा मुद्रा', विश्ववारा, सिकता निवावरी, घोषा, अपाला आदि विदूषी नारियाँ प्रमुख रही हैं। कौशल्या एवं तारा मंत्रविद (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) थीं तो कुंती अर्थवेद की पंडिता थी। परमात्मा ने पुरूषों के साथ–साथ स्त्रियों के अंतःकरण में भी वेदज्ञान प्रकाशित किया था। ऋग्वेद में अनेक ऋषिकाओं का वर्णन है। उसमे सूर्या–सावित्री, घोषा, गोधा, विश्वारा, अपाला, उपनिसत्, शाश्वती आदि को ब्रह्मवादिनी कहा गया है। आदि पुरूष मनु की पुत्री इडा को यज्ञानुकाशिनी कहा गया है। उसने अपने पिता के यज्ञों का पौरोहित्म किया था। विदूषी, काशदृत्सनी ने मीमांसा पर ग्रंथ की रचना की थी। गार्गी वाचक्नुवी, मैत्रेयी, सुलभा, बुष्वा प्राथितेयी जैसी विदूषियों आर्दश स्वरूप थी। आयुर्वेद में पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रचनाओं में महान लेखिका 'रूपा' को प्रसव विज्ञान पर लिखी पुस्तक प्रमुख है, बौद्ध संघ में नारियों के प्रवेश से सामंतो और श्रेष्ठी वर्ग की नारियों में शिक्षा और दर्शन के प्रसार में विशेष योगदान दिया था। मेरी गाथा की 50 निर्वाण प्राप्त कवियत्रियों ने साहित्यिक उन्नयन में योगदान दिया था। जिनमें 32 आजीवन ब्रह्माचारिणी तथा 18 विवाहित भिक्षुणियाँ थीं जिनमें शुभा, अनुपमा, सुमेधा आदि उच्च अभिघात कुल की कन्याऐं थी। दक्षिण भारत की अनेक कवियत्रियों औवइयार का वर्णन मिलता है जिन्होंने प्राकृत भाषा में अनेक काव्य रचना की। गाथा सप्तशती में सात कवियत्रियों की रचनाऐं संग्रहित हैं – रेखा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवहीं, शशिप्रभा कतिपय संस्कृत संग्रहों में भी अनेक कवियत्रियों की उच्चकोटि की रचनाऐं उपलब्ध है, बाल्मिकी रामायण में भी कौशल्या, कैकेयी, सीता, तारा, मंदोदरी आदि स्त्रियों को ज्ञान विज्ञान तथा युद्ध कला–कौशल में पारंगत बताया गया है।

स्त्री शिक्षा एवं मातृत्व –

इस प्रकार देखा जा सकता है कि भारतीय समाज के प्राचीन काल में बौद्धिक एवं सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियाँ अत्यधिक उन्नत एवं प्रभावी भूमिका में थी, एवं लैंगिक विभेद के कारण कोई नकारात्मक मनोवृत्ति या 'Social Stigma' उनके जीवन पर समाज द्वारा आरोपित नहीं दिया गया था। परंतु मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक स्त्रियों की दशा में निरंतर अवनति की ओर अग्रसर होती चली गयी, समाज की मनोवृत्ति में स्त्रियों को लेकर अनेक नकारात्मक तथ्यों ने जन्म लिया एवं स्त्रियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने की मानसिकता ने जन्म लिया एवं विकास किया जिसका सर्वाधिक दुष्प्रभाव स्त्रियों के बौदि्धक विकास हेतु किऐ जाने वाले प्रयासों अर्थात् उनकी शिक्षा पर पड़ा। स्त्रियों की शिक्षा को गैर जरूरी और व्यर्थ मानकर उन्हें इससे वंचित रखा जाने लगा और यह प्रवृत्ति समाज में निरंतर बढ़ती चली गयी, इससे समाज के सामाजिक, राजनीति एवं आर्थिक जीवन में स्त्रियों का प्रत्यक्ष योगदान एवं भूमिका निरंतर घटने लगी और वे घर की चारदीवारी में कैद होकर जीवन व्यतीत करने लगी और उनका विकास कुष्ठित होता चला गया।

इसके पीछे एक मानसिकता और भी थी जो उसके मातृत्व से जुड़ी थी, स्त्री के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल मातृत्व काल होता है, गर्भवती होने से लेकर प्रसवकाल एवं शिशू के जन्म के पश्चात् प्रारंभिक कुछ वर्षों तक शिशु को सर्वाधिक आवश्यकता अपनी माँ की होती है वह पूर्णतः अपनी माता पर ही निर्भर करता है संतान स्त्री के लिए प्राथमिकता स्तर पर महत्वपूर्ण होती है, मातृत्व सुख प्रकृति का दिया अनुपम वरदान एवं मानव समाज की निरंतरता के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण भी है, इस दायित्व के निर्वाह के लिए स्त्री अपनी समस्त क्षमता अपना सम्पूर्ण सार्मथ्य अर्पण कर देती है। इसे संकुचित दृष्टिकोण से देखने के कारण समाज में यह मानसिकता पनपीदि स्त्री को अपना सम्पूर्ण ध्यान एवं जीवन केवल माता की भूमिका के निर्वाह एवं अपने गृहाथ जीवन की ओर केंद्रित कर लेना चाहिए एवं इन दायित्वों के निर्वाह हेतु स्त्री को शिक्षा एवं ज्ञान की अधिक आवश्यकता नहीं है, इन मानसिकता ने स्त्री की क्षमताओं को घटाया और वह समाज में वैयक्तिक स्तर पर प्रभावी भूमिका निभाने में अक्षमता अनुभव करने लगी।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को जो कि मानव समाज की आधारशिला है संकुचित मानसिकता के व्यक्तियों ने मात्र संतान की शारीरिक एवं नैसर्गिक आवश्यकता पूर्ति, उसके पालन–पोषण तक ही सीमित कर दिया, कुछ उदार एवं संवेदशील व्यक्तित्व एवं विचारों ने माता के सेवा, समर्पण, त्याग एवं भावनात्मक पक्ष की ओर भी ध्यान केंद्रित किया, परंतु यह भूमिका केवल प्रजनन या संवेदना का विषय नहीं है, यह स्त्री द्वारा सामाजिक व्यवस्था में निभायी गयी समस्त भूमिकाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका है जो केवल प्रजनन या दायित्व निर्वाह ही नहीं करती बल्कि निर्माण का कार्य करती है। यह भूमिका एक जैविक संरचना को वह व्यक्तित्व प्रदान करती है जो कि सम्पूर्ण भावी समाज का दायित्व संभालने में सहयोग देने वाला है। जिस प्रकार किसी कार्य का परिणाम सर्वाधिक उस कार्य को करने वाले के व्यक्तिगत ज्ञान, कौशल पर निर्भर करता है। यदि कर्ता स्वयं अदाम है जो वह कार्य को सर्वश्रेष्ठ परिणाम नहीं दे पाऐगा। उसी प्रकार

यदि समाज को श्रेष्ठ एवं सशक्त नागरिक चाहिए तो उन नागरिकों की निर्माणकर्ता उनकी माताओं का सशक्त होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और यदि समाज को बेहतर माताऐं चाहिए तो एक व्यक्ति के रूप में स्त्री के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं विकास पर सर्वाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इस परिप्रेक्ष्य में की गयी किसी भी प्रकार की उपेक्षा समाज के अनेक व्याधियों और नकारात्मक परिणामों के रूप में प्रकट होगी। माता की भूमिका को तार्किक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति के रूप में स्त्री का व्यक्तित्व इस भूमिका के निर्वाह में कितना महत्वपूर्ण है एक अशक्त व्यक्तित्व की स्वामिनी स्त्री के लिये अपनी संतान को आत्मबल एवं मानसिक संबल प्रदान करना कठिन कार्य होगा, यह भी हो सकता है कि इन आवश्यकताओं की ओर स्त्री का ध्यान ही न जाऐं और उसकी सम्पूर्ण क्रियाऐं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रह जाऐं।

अतः स्पष्ट है कि माता का एक व्यक्ति के रूप में व्यक्तित्व कितना महत्वपूर्ण है, और इस व्यक्तित्व के निर्माण में सबसे शक्तिशाली अभिकरण शिक्षा है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पेस्तालाजी मानते हैं कि शिक्षा का अर्थ सब शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और व्यवस्थित विकास है। टी.पी. नन का भी मत है कि शिक्षा व्यक्ति का पूर्ण विकास है, ताकि वह अपनी सर्वोत्तम सार्मथ्य के अनुसार मानव जीवन में एक मौलिक योगदान प्रदान कर सके। अतः स्पष्ट है कि बिना शिक्षा के व्यक्ति न ही 'स्वयं' को और नहीं स्वयं के महत्व एवं उपयोगिता को समझ सकता है। शिक्षा के संबंध में दिया गया दर्शन शिक्षा के अर्थ एवं मानव जीवन में मानव के लिये इसके महत्व को एक अलग ही अर्थ प्रदान करता है जैसे कि श्री अरविंद मानते हैं कि जो शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक ही सीमित है वह शिक्षा नहीं है, सच्ची शिक्षा वह है जो मानव का आध्यात्मिक विकास करती है व्यक्ति की चेतना का परम सत्ता से योग कराती है। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार भी अत्यंत महत्वपूर्ण है कि शिक्षा मस्तिष्क को अंतिम सत्य खोजने के योग्य बनाती हैं, जो सत्य हमें पार्थिव बंधनों से मुक्त करता है और हमें वह धन देता है जो सांसारिक वस्तु नहीं है बल्कि आंतरिक प्रकाश है जो शक्ति नहीं है बल्कि प्रेम है और जिसके कारण मानव उस सत्य को अपना बना लेता है और उसे ढंग से प्रकट करता है। इस प्रकार शिक्षा मानव में आत्मिक एवं मानसिक बल को सुदृढ़ बनाती है और उसके व्यक्तित्व को सशक्त बनाती है। इस शिक्षा नामक अभिकरण का उपयोग कर जब एक स्त्री सशक्त होती है तो वह इस शक्ति को अपनी संतान को भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रदान करती है क्योंकि संतान पर सर्वाधिक प्रभाव उसकी माता के व्यक्तित्व का ही पड़ता है। प्रसिद्ध लेखिका अजीत कौर ने अपने उपन्यास 'कूड़े–कबाड़ा' में अपने जीवन का वर्णन किया है, जिसमें वह बतातीं है कि वे एक अशिक्षित एवं डरे–सहमें व्यक्तित्व की माता द्वारा दिये गये अशक्त संस्कारों से वे (अजीत कौर) जीवन में कभी–भी मुक्त नहीं पो पायीं, तब भी नहीं जब वे कामकाजी महिला बनी, तब भी नहीं जब वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो गयीं, परंतु उनकी शिक्षा ने उन्हें इस कमजोरी या अशक्तता का आभास कराया था और अपनी संतानों को बेहतर भविष्य देने हेतु, अजित कौर अपनी शिक्षा के माध्यम से ही आत्मबल, मानसिक संबल और साधन जुटा पायीं और अपनी बच्चियों को एक बेहतर जीवन एवं एक सशक्त व्यक्तित्व प्रदान करने हेतु संघर्ष कर पायीं, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली।

वर्तमान में स्त्री शिक्षा एवं सशक्तिकरण के महत्व को उजागर करने हेतु एक नवीन मान्यता प्रचारित की जा रही है कि जो व्यावहारिक एवं तार्किक भी है, जिसमें कहा जाता है कि जब एक पुरुष शिक्षित होता है तब केवल एक व्यक्ति शिक्षित होता है परंतु जब एक स्त्री शिक्षित होती है जो ज्ञान का प्रभाव एक सम्पूर्ण परिवार पर पड़ता है, और इस मान्यता का केन्द्र एक शिक्षित माता द्वारा अपनी संतान को दी जाने वाली परवरिश से ही है। नोबल पुरुस्कार विजेता अर्मत्य सेन ने अपनी कृति ''भारत का आर्थिक विकास और सामाजिक अवसर'' अपने विचारों के माध्यम से कहा है कि महिला सशक्तिकरण से न सिर्फ महिलाओं के जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा अपितु निश्चित ही पुरुषों एवं बच्चों को भी इससे लाभ होगा। क्योंकि एक स्त्री माता की भूमिका में भी दो भूमिकाओं का निर्वाह करती है एक संरक्षिका तो दूसरी गुरु की, इसी कारण माता को प्रथम गुरु भी कहा गया है, और इन दोनों दायित्वों का निर्वाह करने का संबल उसे उसके स्वयं के व्यक्तित्व एवं ज्ञान से प्राप्त होता है, जो उसने अर्जन किया है। यह ज्ञान जितना वृद्ध जितना श्रेष्ठ होगा उसका संतान पर पड़ने वाले प्रभाव का परिणाम भी उतना ही श्रेष्ठ स्तर का होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1.गोयल, डॉ. प्रीतिप्रभा, भारतीय संस्कृति, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
2.डेवी जॉन, डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन
3.वर्मा, वेद प्रकाश, 'महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन' इंद्र प्रकाशन, नई दिल्ली
4.लाल, रमन बिहारी, 'शिक्षा के सिद्धांत' रस्तोगी पब्लिकेशन, शिवानी रोड, मेरठ
5.अग्रवाल, जे.सी., एजूकेशन रिफार्मस ऑफ इण्डिया, दोआब हाउस, दिल्ली
6.अग्निहोत्री, ए, शिक्षा संस्कृति और संभवनाओं का विश्लेषण, साहित्य परिचय, आगरा
7.मुकर्जी, श्रीधरनाथ एण्ड ओड, 'भारतीय शिक्षा', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
8.सिंह, अरुण कुमार, 'शिक्षा मनोविज्ञान', भारती पब्लिकेशन, पटना
9.सक्सेना, एन.आर. स्वरूप : शिक्षा के दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धांत, संस्करण 2008
10.राजकिशोर, 'स्त्री के लिऐ जगह', संपादकीय राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002